



माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य में ओंकार तत्त्व

भोला नाथ (शोधार्थी)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली, भारत

शोध संक्षेप

भारतीय विचारधारा के विकास-क्रम में उपनिषद् दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन की लगभग सभी चिंतन पद्धतियों का मूल उपनिषद् में पाया जाता है। वेद के चार भागों संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् में परिगणित होने से उपनिषद् को भी वेद के नाम से जाना जाता है। ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर ये एकादश उपनिषद् हैं जिन पर शंकराचार्य का भाष्य प्राप्त होता है। अतः इन्हें ही प्रामाणिकता की कोटि में रखा गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में माण्डूक्य उपनिषद् शांकरभाष्य में ओंकार तत्त्व का विवेचन किया गया है।

भूमिका

माण्डूक्योपनिषद्, जो प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम है, परवर्ती वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्तों की स्थापना करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह उपनिषद् चार प्रकरणों में विभाजित है, आगमप्रकरण, वैतथ्यप्रकरण, अद्वैतप्रकरण और अलातशांतिप्रकरण। आगम(1) प्रकरण के अन्तरगत ओंकार तत्त्व का विधिवत विवरण प्राप्त होता है। माण्डूक्योपनिषद् ओंकार तत्त्व को तीन मात्राओं में विभाजित करता है। जिसमें अ, उ और म् ये तीन मात्रायें हैं। मात्रा शब्द माप के अर्थ में प्रयुक्त होता है।(2) यहाँ अ, उ और म् मात्रायें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के बोधक हैं। इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था तुरीय अवस्था की भी कल्पना की गयी है, जो कि ओंकार की मात्राहीन अवस्था है। मानसिक स्थिति की इन विविध अवस्थाओं के

अनुरूप ही ओंकार की मात्राओं को व्यवस्थित किया गया है, साथ ही इसी के अनुरूप आत्मन् के विविध प्रकार माने गये हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था माण्डूक्योपनिषद् की मौलिक कल्पना मानी जाती है। माण्डूक्य का मत है कि इन चार मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप ही परमात्मा के चार पक्ष हैं जिसमें अन्तिम तुरीय अवस्था ही सत्य है, जो कि ईश्वर की सगुण अवस्था से भी परे की अवस्था है। शंकराचार्य ने इस तुरीय अवस्था को अमृत, अजन्मा मानते हुए परम सत्य स्वीकार किया है, 'माया संख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि'।(3)

माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ॐ शब्द को अक्षर तत्त्व कहा गया है।(4) अक्षर वह है जिसका कभी क्षय नहीं होता है। इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता



है। इसीलिये संसार शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है, 'संसारति इति संसारः' अर्थात् जो निरन्तर सरक रहा है जिसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है वह संसार है। यह संसार दो रूपों में दिखायी देती है एक जड़ दूसरा चेतन। सांख्य दर्शन में चेतन तत्त्व को पुरुष तथा जड़ या अचेतन तत्त्व को प्रकृति कहा गया है।(5) प्रत्येक पदार्थ की जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति ये छः अवस्थायें होती हैं। अचेतन जगत् में निरन्तर परिवर्तन अर्थात् उसके वर्तमान रूप का क्षय होता रहता है।(6) निरुक्तकार ने जन्मादि को छः भावविकार की संज्ञा दी है ये छः भावविकार सभी पदार्थों में पाये जाते हैं।(7) दूसरा तत्त्व चेतन तत्त्व है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। वह सदैव एक सा रहता है, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्'।(8)

माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ओंकार की सर्वात्मकता प्रतिपादित की गयी है। जिसमें ओंकार को ही सब कुछ बताया गया है। जो अभिधेय रूप समस्त पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान से अभिन्न होने के कारण तथा सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब ओंकार ही है। परब्रह्मन् भी अभिधान-अभिधेय रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिये वह भी ओंकार ही है। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों के द्वारा जो कुछ परिच्छेद्य है, वह भी उपर्युक्त कथन के अनुसार ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो काल से परे, अपरिच्छेद्य, अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है।(9)

माण्डूक्योपनिषद् के द्वितीय मन्त्र में शरीर में स्थित आत्मन् को ब्रह्मन् बतलाते हुए इस

आत्मन् को चार पादों वाला कहा गया है, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय।(10)

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मन् को चार पादों वाला बताया गया है, जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय। इसमें जागरित स्थान को बहिष्प्रज्ञ, सात अंगों वाला, 19 मुखों वाला तथा स्थूल पदार्थों का भोग करने वाला कहा है। बहिष्प्रज्ञ का अर्थ है अपने अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का ज्ञान रखने वाला, अर्थात् अविद्या से प्रभावित बुद्धि बाह्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाली होती है। इसे ही जागरित स्थान कहा गया है। जागरित अवस्था जिसका स्थान है चेतना की वह अवस्था जागरित स्थान कहा जाता है। यह वैश्वानर सात अंगों वाला है। शंकराचार्य के अनुसार द्युलोक वैश्वानर आत्मन् का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान देह है, अन्न का कारण रूप जल ही मूत्र स्थान है और पृथ्वी ही चरण है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादाः'।(11) इन सात अंगों के कारण वैश्वानर को सप्तांग कहा गया है। जागरित अवस्था में आत्मन् इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का भोग करती है। आत्मन् की यह अवस्था अधोऽवस्था होती है। इस अवस्था में आत्मन् को अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है। आत्मन् पर बाह्य विषयों का प्रभाव अधिक होता है। इसीलिये जागरित स्थान आत्मन् को बहिष्प्रज्ञ कहा जाता है।

इस वैश्वानर को 19 मुखों वाला कहा गया है। जिसमें कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय को मिलाकर दश, पञ्च प्राण तथा मनस्, बुद्धि, चित्त, अहंकार

को मिलाकर 19 हुए। उपलब्धि का द्वार होने के कारण इन्हें मुख कहा गया है। इन 19 मुखों के द्वारा बहिष्प्रज्ञ वैश्वानर बाह्य स्थूल विषयों का उपभोग करता है। इसीलिये इसे स्थूलभुक् कहा जाता है। विषयों का भोग करने से विषयों की आशक्ति आत्मन् में बनी रहती है। इस आशक्ति के कारण ही आत्मन् नाना देहों को धारण करती है। आत्मन् की यह जागरित स्थान अवस्था ही अनेक प्रकार के जन्मों का कारण बनती है। इसीलिये इसे वैश्वानर कहा जाता है। शंकराचार्य ने वैश्वानर(12) की व्युत्पत्ति दी है, **‘विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः’** अर्थात् सम्पूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में वहन करने के कारण वैश्वानर कहलाता है। अन्य देहों का ज्ञान होने से पहले इस देह का ज्ञान होना आवश्यक है, **‘प्रणवशब्द एव पन्था’**(13)। इसलिये इसे प्रथम पाद कहा गया है।(14)

इस ओंकार का द्वितीय पाद स्वप्न स्थान वाला कहा गया है। क्योंकि इस स्थिति में आत्मन् स्वप्न जगत् के विषयों का अनुभव करता है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर मनस् पर उस ज्ञान का संस्कार छोड़ देती है। पुनः स्वप्नकाल में मनस् में उन वासनाओं का स्फुरण होता है। यह ज्ञान स्थूल विषयों का नहीं होता है, अपितु यह ज्ञान स्वप्न जगत् का तथा प्रकाश स्वरूप होता है। मनस् से प्रकाश रूप में वासनाओं के स्फुरण का कारण अविद्या, कामना और सकाम कर्म है। इन्हीं तीनों के कारण मनस् स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है। यही कारण है कि अविद्या, कामना के नष्ट हो जाने पर पुरुष स्वप्न से अतीत हो जाता है। इन्द्रियों की अपेक्षा मनस् के आन्तरिक होने के

कारण इसे अन्तःकरण के अन्तरगत रखा गया है। तर्कसंग्रह में मनस् को छठी इन्द्रिय माना गया है, **‘सुखदुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मनः’**।(15) मनस् का सम्बन्ध पञ्चज्ञानेन्द्रियों से होने के कारण कठोपनिषद् में मनस् को इन्द्रिय रूपी घोड़ों का लगाम कहा गया है।(16) क्योंकि मनस् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ी होती है। यह आत्मन् मनस् के साथ एकीभाव को प्राप्त होकर स्वप्न जगत् के विषयों का भोग करता है, अतः अन्तःप्रज्ञ कहलाता है। प्रश्नोपनिषद् में आत्मन् के इस स्थान को परमदेव कहा है, **‘तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति’**(17)। स्वप्नावस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है, **‘अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति’** (18)। स्वप्नावस्था में इस आत्मन् की प्रज्ञा मनस् की वासना के अनुरूप रहती है। प्रकाश स्वरूप प्रज्ञा का अनुभव करने के कारण इसे तैजस् कहा जाता है।(19)।

ओंकार का तीसरा पाद सुषुप्त पाद कहा जाता है। सुषुप्ति पुरुष की वह अवस्था होती है, जिसमें किसी प्रकार का न स्वप्न होता है न ही कोई कामना ही होती है। सुषुप्ति स्थान में आत्मन् की जो चेतना होती है। वह सुषुप्त स्थान कहलाता है। इस अवस्था में स्वप्नगत ज्ञान और जागरत का ज्ञान सबका तमोगुण के कारण एकीभाव हो जाता है, जैसे अन्धकार में वस्तुओं का एकीभाव प्राप्त हो जाता है। इसी कारण इस चेतना को एकीभूत कहा जाता है। जाग्रत और स्वप्न जगत् का ज्ञान घनीभूत हो जाने से इसे प्रज्ञानघन कहा जाता है। सुषुप्तावस्था के आनन्द बहुल होने के कारण यह आनन्दमय कहा जाता है। फिर भी आनन्द की आत्यन्तिकता न होने से यह स्थिति केवल आनन्द की स्थिति नहीं है।

यह चेतना आनन्द का भोक्ता होने के कारण आनन्दभुक् कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में भी भोक्ता और भोग की स्थिति बनी रहती है। दोनों में एकीभाव प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये जागने के उपरान्त 'मै आनन्द पूर्वक सोया' का भान होता है। न कि मै आनन्द रूप था ऐसा भान होता है। ज्ञान मात्र रूप जो ओंकार का चौथा रूप है वह इसी सुषुप्ति अवस्था का असाधारण रूप होता है। इसी कारण उपचार से (गौण रूप में) इसे भी प्राज्ञ कहा जाता है।(20) इस गौण रूप प्राज्ञ का सर्व कारणत्व सिद्ध करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि प्राज्ञ ही समस्त भेद समूह का ईश अर्थात् शासन करने वाला है। सम्पूर्ण सृष्टि में यही सब वस्तुओं का ज्ञाता है। इसलिये इसे सर्वज्ञ कहते हैं। सभी प्राणियों का नियमन करने के कारण इसे ही अन्तर्यामी कहते हैं। भेद सहित समस्त जगत् इसी प्राज्ञ से उत्पन्न होता है। इसलिये यह सबका कारण है और यही समस्त प्राणियों का उत्पत्ति और लय स्थान है।(21) इस प्रकार एक ही आत्मन् के बहिष्प्राज्ञ, अन्तःप्राज्ञ और प्रज्ञानघन ये तीन रूप कहे गये हैं। इन तीन रूपों की शरीर के तीन स्थानों में स्थिति बतलायी गयी है।

आत्मन् का वैश्वानर रूप दाहिने नेत्रद्वार में रहता है। मनस् के भीतर आत्मन् का तैजस् रूप रहता है, 'अयं पुरुषः मनोमयः'(22), और हृदयाकाश में प्राज्ञ की स्थिति बतलायी गयी है।

वैश्वानर प्रधानता की दृष्टि से दक्षिण नेत्र में स्थित होकर स्थूल पदार्थों का अनुभव करता है, 'इन्द्रो ह वै नामेष योऽयं दक्षिणोऽक्षन्पुरुषः'(23) अर्थात् यह जो दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष है उसे

इन्द्र कहते हैं। वैश्वानर में दीप्तगुण अधिक होने से इसे इन्द्र कहा जाता है।

वस्तुतः आत्मन् ही एक मात्र भोक्ता है। यही आत्मन् सभी इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का भोग करता है, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'(24)। गीता में भी कहा है 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'(25)। किन्तु प्रधानता की दृष्टि से दक्षिण नेत्र में स्थित वैश्वानर रूप आत्मन् विषयों का अधिक भोग करता है। अर्थात् दक्षिण नेत्र की दर्शन शक्ति अधिक होती है। इसलिये दक्षिण नेत्र को आत्मन् का मुख कहा गया है। वैश्वानर रूप आत्मन् और तुरीय आत्मन् में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है केवल भेद की प्रतीति मात्र होती है, अजिसा कि गीता में कहा है 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'(26)। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मन् के इन त्रिविध रूपों का भोग भी बतलाया गया है। वैश्वानर का भोग स्थूल पदार्थ है। आत्मन् के तैजस् रूप का भोग स्वप्नगत प्रकाशरूप सूक्ष्म पदार्थ हैं और प्राज्ञ आनन्द को भोगने वाला होता है। इसी प्रकार तीन प्रकार के भोगों के अनुसार आत्मन् की तृप्ति भी तीन प्रकार की समझनी चाहिये। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों पर भोग और भोक्ता के तीन रूप होते हैं। इन तीनों रूपों को भलीभाँति जानने वाला पुरुष भोगों को भोगता हुआ भी इनसे लिप्त नहीं होता है अपितु इन सबको वह साक्षी भाव से देखता हुआ विषयों से दूर रहता है।

ओंकार के चतुर्थपाद तुरीय अवस्था का स्वरूप

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार के तीन पादों का कथन करने के उपरान्त चतुर्थपाद तुरीय का स्वरूप बतलाया गया है। तुरीय का स्वरूप शेष



तीनों पादों के धर्मों से रहित है। वह अन्तःप्रज्ञ नहीं है ऐसा कथन करके आत्मन् के तैजस् स्वरूप का निषेध किया गया है। वह बहिष्प्रज्ञ नहीं है, अर्थात् वह वैश्वानर के धर्मों से रहित है। उसमें अन्तःप्रज्ञ और बहिष्प्रज्ञ के बीच की स्थिति भी नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है इससे आत्मन् की सुषुप्ति अवस्था का निषेध है। वह प्रज्ञ भी नहीं है। प्रज्ञ का अर्थ है, 'प्रकृष्टेन जानाति इति प्रज्ञः' यद्यपि पूर्व में उसे सर्वज्ञ कह दिया गया है। तथापि वह 'प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर यहाँ निषेध किया गया है। क्योंकि तुरीयवस्था में ज्ञान का भी अनुभव नहीं होता है।(27) वह ज्ञान स्वरूप है किन्तु ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इसलिये वह प्रज्ञ नहीं है। ज्ञान का अनुभव होना एक विचार है। तुरीय में कोई विचार नहीं होता।(28) वह अप्रज्ञ है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह जड़ नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में उसे 'नेति नेति' कहकर सभी विकल्पों से शून्य बताया गया है(29) ओंकार की तुरीय अवस्था सभी इन्द्रियों की पहुँच से परे है। केनोपनिषद् में कहा है। 'न तत्र श्रोत्रं गच्छति न वाक् गच्छति...' (30) इसलिये अदृश्य है। अदृश्य होने से सर्वथा अव्यवहार्य है। कर्मेन्द्रिय से अग्राह्य है। लिंगों से रहित होने से अलक्षण है। किसी प्रकार से उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। इसलिये वह अचिन्त्य है। शब्दों द्वारा न कहे जा सकने से अव्यपदेश्य(अकथनीय) है। इस प्रकार के ज्ञान के अनुसरण किये जाने से एकात्मप्रत्ययसार कहा जाता है। एकात्मप्रत्ययसार का अर्थ है आत्मज्ञान ही जिसमें प्रमाण है।

पुनः जाग्रत आदि अवस्थाओं के अभिमानियों के धर्मों का प्रतिषेध करते हुए कहा गया है- कि जाग्रत आदि अवस्थाओं के जो प्रपञ्चादि धर्म हैं तुरीय उनसे भी रहित है। इसलिये वह शान्त है अविकारी है। भेद रूप विकल्पों से रहित होने के कारण अद्वैत है। मंगलमय होने से शिव है। पूर्वोक्त तीन पादों से विलक्षण होने से चतुर्थ यानी तुरीय है। उस तुरीय ओंकार को आत्मन् कहते हैं वही जानने योग्य है(31)।

तुरीय आत्मन् समस्त दुःखों का निवारण करने में समर्थ है। दुःख केवल भोग से उत्पन्न होता है। आत्मन् के विश्व, तैजस् और प्राज्ञ अवस्थाओं में भोग होता है। इसलिये ये तीनों दुःख देने वाले होते हैं। तुरीय में कोई भोग नहीं है इसीलिये दुःखों से रहित है। उसमें किसी प्रकार का विकार न होने से अव्यय है। अर्थात् वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है। तुरीय ही सभी पदार्थों का अद्वैत रूप है। प्रकाशनशील होने से देव है। माण्डूक्योपनिषद् के ११वें मन्त्र में तुरीय का विश्व और तैजस् से भेद बताया गया है। विश्व और तैजस् में कर्ता और कार्य का भाव विद्यमान रहता है। आत्मन् इन दोनों अवस्थाओं में 'मैं कर्ता हूँ' 'मेरे द्वारा किये गये ये कार्य हैं'। इस प्रकार का भाव विद्यमान रहता है। किन्तु प्राज्ञ में ये दोनों भाव नहीं रहते हैं तथापि कर्ता(कारण) का बीज विद्यमान होता है। लेकिन तुरीय में ये दोनों नहीं रहते हैं(32)। वाक्यपदीय के अनुसार जाग्रत अवस्था का कर्ता वाक् द्वारा ही व्यवहार करता है, अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होता है। वैसे ही स्वप्नावस्था में वाक् ही कर्ता, कर्म एवं करण आदि रूपों को ग्रहण करती है, 'प्रविभागे यथा



कर्ता तथा कार्यं प्रवर्तते। अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते।(33)।

सुषुप्तावस्था में पुरुष की जो चेतना होती है उसे प्राज्ञ कहा जाता है। लय होने पर सभी जीव इसी अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसीलिये इसे सबका कारण कहा जाता है। सबका शासक होने से ईश्वर कहा जाता है।(34) प्राज्ञ जो सुषुप्तावस्था की चेतना है। यह अज्ञान (तमस) की प्रधानता से न अपने को जानता है, न पराये को जानता है, न सत्य को जानता है, न असत्य को ही जानता है। जबकि तुरीय सबको जानने वाला है।(35) इसीलिये उसे सर्वदृक् कहा जाता है। जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो वह सर्वदृक् कहा जाता है।

द्वैत का ग्रहण प्राज्ञ में भी नहीं होता है और तुरीय में भी नहीं होता है। किन्तु प्राज्ञ में द्वैत का अग्रहण निद्रा के कारण होता है। जबकि तुरीय में निद्रा नहीं होती। यह तुरीय आत्मन् ही अक्षर की दृष्टि से ओंकार कहा गया है। वह मात्राओं को विषय बनाकर स्थित है, पूर्वोक्त पाद ही मात्रायें हैं और मात्रायें ही पाद हैं। ये मात्रायें अकार उकार और मकार हैं। प्रणव के तीनों पाद तुरीय के ही रूप हैं, 'प्रणवशब्दः दिक्कालाणवोऽपि तस्य रूपाणि' (36)।

अब आगे मात्राओं का पादों से सम्बन्ध दिखाया गया है। ओंकार की प्रथम मात्रा अकार वैश्वानर चेतना वाला होता है। माण्डूक्य में इसके दो कारण बताये गये हैं। प्रथम कि अकार से समस्त वाणी व्याप्त है, 'अकारो वै सर्वा वाक्'(37)। वैश्वानर आत्मन् का मस्तक द्युलोक है, छान्दोग्योपनिषद् में कहा है 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व सुतेजा'(38)। इस श्रुति के अनुसार वैश्वानर से सारा जगत् व्याप्त

है। इसलिये समानता के कारण अकार मात्रा वैश्वानर का बोधक है। दूसरा कारण कि ओंकार में अकार अक्षर आदिमान है। पादों में वैश्वानर आदिमान है। इस समानता के कारण भी वैश्वानर की अकार रूपता सिद्ध है। जो पुरुष इस एकत्व को जानता है। वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है(39)। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो एक मात्रा विशिष्ट ओंकार का ध्यान करता है वह उसी से बोध को प्राप्त होकर तुरन्त ही संसार को प्राप्त हो जाता है(40)।

उकार मात्रा और तैजस् का एकत्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि उकार स्वप्न स्थान वाले तैजस् आत्मन् का बोधक है। इसके भी दो कारण हैं। प्रथम कि अकार से उकार उत्कृष्ट है, दूसरी ओर वैश्वानर से तैजस् उत्कृष्ट है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है 'परे देवे मनस्येकीभवति'(41) या मध्यवर्तित्व के कारण दोनों समान हैं। उत्कर्ष सूक्ष्मता की दृष्टि से है क्योंकि सूक्ष्म स्थूल की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और व्यापक होता है। इसका फल बताते हुए कहा गया है कि उकार को जानने वाला पुरुष ज्ञान संतति को प्राप्त करता है। वह सबके प्रति समान व्यवहार करता है। उसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञान हीन पुरुष नहीं होता है(42)। प्रश्नोपनिषद् में इसका फल बताते हुए कहा है कि दो मात्रा की उपासना करने वाला व्यक्ति सोमलोक में विभूतियों का अनुभव करके पुनः लौट आता है(43)।

सुषुप्ति स्थान वाला जो प्राज्ञ आत्मन् है वह ओंकार की तीसरी मात्रा है। इनकी परस्पर समानता दिखाते हुए कहा गया है कि ये मिति अर्थात् माप के कारण समान हैं। प्रलय के समय



विश्व और तैजस् प्राज्ञ में विलीन हो जाते हैं और उत्पत्ति के समय पुनः प्राज्ञ से तैजस् और वैश्वानर निकलते हैं। दूसरी ओर ओंकार की समाप्ति पर पुनः उनका प्रयोग किये जाने पर मानो अकार और उकार मकार में प्रवेश करके पुनः निकलते हैं। दूसरा एकीभाव के कारण भी दोनों में समानता है। ओंकार का उच्चारण करने पर अकार और उकार मकार में एकीभूत से हो जाते हैं। उसी प्रकार सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस् प्राज्ञ में लीन से हो जाते हैं। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है। अर्थात् सृष्टि और प्रलय के समय को जानने वाला हो जाता है और वह जगत् का कारण स्वरूप हो जाता है।(44)

23वें मन्त्र में ओंकार की उपासना के फल को एकत्रित रूप में दिखाया गया है कि अकार विश्व को प्राप्त करा देता है। उकार तैजस् को, मकार प्राज्ञ को किन्तु अमात्र जो कि ओंकार की तुरीयवस्था है उसमें किसी की गति नहीं है।(45) प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ओंकार की तीनों मात्रायें पृथक्-२ रहने पर मृत्यु से युक्त हैं, **‘तिसो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता’**(46)। ओंकार की तुरीयवस्था आत्मन् ही है। इस अवस्था में वाणी और मनस् का क्षय हो जाने से अव्यवहार्य है। वह प्रपञ्च रहित मंगलमय तथा अद्वैत स्वरूप है। जो इस प्रकार जानता है वह अपने पारमार्थिक आत्मन् में प्रवेश करता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

२६ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि यह ओंकार ही परब्रह्मन् है ओंकार ही अपरब्रह्मन् है प्रश्नोपनिषद् में कहा है **‘परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः’** (47)। वह ओंकार अकारण

अन्तर्बाह्यशून्य अकार्य और अव्यय है।(48) पूर्वोक्त तीनों पादों का क्षय हो जाने के उपरान्त तीनों में व्याप्त आत्मन् की ब्रह्मन् रूपता का भान होता है। इसका कोई अन्तरभिन्न जातीय नहीं है इसलिये अनन्तर है। इससे बाह्य भी कोई नहीं है इसलिये अबाह्य है। इसका कोई कार्य न होने से अकार्य है। प्रणव ही आदि, मध्य और अन्त है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। वाक्यपदीयकार का कहना है- **‘शब्दस्य परिणामोऽयं इत्यम्नाय विदोविदुः’** (49) इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति एकरूपता को प्राप्त कर लेता है।(50)

निष्कर्ष

माण्डूक्य उपनिषद् के आगम प्रकरण में प्रणव की विशेष प्रशंसा की गयी है और उसे अधिक आध्यात्मिक महत्त्व दिया गया है। इसमें बताया गया है कि ओंकार की तीन मात्रायें हैं- अ उ और म् । इसके अतिरिक्त एक मात्रा हीन अवस्था है। ओंकार को सूक्ष्म रूप से चेतना की विभिन्न अवस्थाओं और आत्मन् के विविध प्रकारों का प्रतीक माना गया है। एक ओर यह जाग्रत अवस्था, स्वप्न अवस्था, सुषुप्ति अवस्था तथा तुरीय अवस्था का प्रतीक है तो दूसरी ओर आत्मन् के विविध प्रकारों वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और आत्मन् का प्रतीक है। ओंकार का अमात्रिक भाग चेतना की तुरीय अवस्था तथा तत्त्वज्ञान की चतुर्थ कोटि आत्मन् का भी प्रतीक है। वैश्वानर स्थूल पदार्थों का भोग करने वाला है। तैजस् सूक्ष्म पदार्थों का तथा प्राज्ञ आनन्द का भोग करने वाला है। प्राज्ञ को दर्शन के ईश्वर के समान बताया गया है जो सबका प्रभु, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, भूतमात्र की उत्पत्ति और लय का



कारण है। इन सबसे पृथक आत्मन् है। जो कि दर्शन के ब्रह्मन् के बराबर है। यह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, और न उभयप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न हि अप्रज्ञ है। यह अव्यवहार्य, अदृष्ट, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य है यह शांत, शिव और अद्वितीय है।

एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्व्येवाक्षरं परम्।

एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥(51)

(1) आगम उस विद्या को कहते हैं जो सदा गुरु शिष्य परम्परा से चली आ रही है।

(2) अमरकोश, नानार्थवर्ग-श्लोक-१७७

(3) माण्डूक्य.आगमप्रकरण शांकरभाष्य मंगलाचरण-१

(4) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं(माण्डूक्य.१/१)

(5) त्रिगुणमविवेकविषयः सामान्यं अचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च
पुमान्॥सांख्यकारिका-११

(6) यत्सत्तत्क्षणिकं। बौद्धदर्शन, सर्वदर्शन संग्रह पृ.३३

(7) जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते
विनश्यति। जन्मादयोविकाराः

षडभावभेदस्ययोनयः॥वाक्य.ब्रह्मकाण्ड.३

(8) कठोपनिषद् तृतीयवल्ली श्लो.१५

(9) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं
भवद्भविष्यदिति सर्वमोकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं
तदप्योकार एव॥१॥

(10) सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा
चतुष्पात्॥२॥

(11) छा.उ. ५/१८/२

(12) सैषा संसारिणां संज्ञा।(यह वाक् रूपता सांसारिक
प्राणियों की संज्ञा है) वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, ११७

(13) कैवल्यदर्शनम्, ३/४

(14) जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः
एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥३॥

(15) तर्कसंग्रह पृ.७

(16) आत्मन्नं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु
सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठो.३/३

(17) प्रश्न.४/२

(18) प्रश्न.४/५

(19) स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक्चेतसो द्वितीयः पादः॥४॥

(20) यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन
स्वप्नं पश्यति तत्सुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः
प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः
प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥५॥

(21) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययोः हि भूतानाम्॥६॥

(22) बृ.उ. ५/६/१

(23) बृ.उ.४/२/२

(24) श्वे.३/६/११

(25) गीता१३/२

(26) गीता-१३/१६

(27) अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्(केन.उ.१/३)

(28) तांत्रिक संभोग और समाधि-१५८

(29) बृ.उ. ४/४/२२ ४/५/१५

(30) केनो.१/३

(31).नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं
न प्रज्ञं नाप्रज्ञं।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेका
त्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ
मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥

(32) कार्यकारणबद्धौ तविष्येते विश्वतैजसौ। प्राज्ञः
कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्यं न सिद्धतः॥११॥

(33) वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड,-११८

(34) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययोः हि भूतानाम्॥६॥

(35) नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा॥१२॥

(36) कैवल्य दर्शनम्, पृ.२७

(37) ऐ.आ. २/३/६



(38) छा.उ.५/१८/२

(39) जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥९॥

(40) स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते॥ प्रश्न.उ.५/३

(41) प्रश्न. उ. ४/२

(42) स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्बोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥१०॥

(43) यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुभिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ प्रश्न.उ.५/४

(44) सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह व इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥११॥

(45) अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्। मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः॥२३॥

(46) प्रश्न.उ.५/६

(47) प्रश्न.उ. ५/२

(48) प्रणवं ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः। अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥२६॥

(49) वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १११

(50) सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च। एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्॥२७॥

(51) कठो.२/१६

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 ईशादि नौ उपनिषद्, शांकरभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत्, २०६७।

2 रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, २०११।

3 पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्य, सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव(हिन्दी व्याख्याकार), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०११।

4 वाक्यपदीयम्(ब्रह्मकाण्ड), भर्तृहरि, शिवशंकर अवस्थी (व्याख्याकार), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २००६।

5 सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्य, जगन्नाथ शास्त्री(व्याख्याकार), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०१०।

6 सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, उमाशंकर शर्मा ऋषि(प्रकाश-हिन्दीव्याख्या), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०।

7 तर्कसंग्रह, अन्नमभट्ट, अनितासेन गुप्ता(व्याख्याकर्त्री), शारदा पुस्तकभवन, इलाहाबाद, २००३।